हिन्दी के दलित उपन्यासों में निहित चेतना

डॉ. उमेश कुमार शर्मा

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपन्यास वर्तमान युग की प्रचलित विधा है। उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। उपन्यास की कहानी को पढ़कर लगता है कि इसमें हमारे ही जीवन की कथा है।

हिन्दी भाषा में उपन्यास लेखन की परम्परा सौ साल से भी अधिक पुरानी है। हिन्दी में उपन्यास लेखन की परम्परा में सामाजिक, धार्मिक, आदर्शवादी, मार्क्सवादी, आँचलिक, यथार्थवादी, प्रकृतवाद आदि से सम्बद्ध उपन्यास लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। इन सब धाराओं के अलावा कई पक्ष, पहलु, मुद्दे हैं जो चर्चा के विषय हैं, उन पर बात कर उन पहलुओं, मुद्दों और उनसे जुड़े लोगों की समस्याओं, कठिनाइयों एवं सच्चाईयों को सबके सामने लाना एवं उनको दूर करने का प्रयास किया जाना अति आवश्यक है। वे लोग, उनकी समस्याएं, मुद्दे आज भी हासिए पर है, उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। आज इसी हासिए की अवधारणा ने हिन्दी में कई साहित्यिक विमर्शों को जन्म दिया है। हजारों वर्षों के शोषण एवं भेदभाव के विरूद्ध इनके संघर्ष का परिणाम है कि आजादी के बाद इन पर अधिक ध्यान दिया गया। आज की जरूरत इन्हें दिये गये विधिक अधिकारों की मूल भावना को समाज के यथार्थ में परिवर्तित करना है। इन विमर्शों की सबसे बडी सामाजिक उपयोगिता है जिसके चलते वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य में ये विमर्श हाशिए पर नहीं, वरन् केन्द्रीय स्थान रखते हैं। हिन्दी में महात्मा ज्योतिबा फुले और बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों एवं संघर्ष से आन्दोलित दलित लेखन एवं पश्चिमी नारीवाद की छाया में विकसित स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श से प्रभावित लेखन उत्कृष्ट रूप में हमारे सामने है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर के जीवन दर्शन को जाने बिना 'हिन्दी दलित साहित्य' को1 समझने की चेष्टा करना बेमानी लगता है। डॉ. अम्बेडकर हिन्दी दलित साहित्य के प्रेरणापुंज हैं। उन्होंने दलित जातियों को ''शिक्षित बनो, संगठित रहो, और संघर्ष करो'' का मूलमंत्र दिया। साहित्यकार सूरजपाल चौहान ने दलितों के जीवन और 'दलित साहित्य' पर डॉ. अम्बेडकर के गहरे प्रभाव को स्वीकार किया है। यह प्रभाव दलित समाज को सामाजिक बराबरी के साथ–साथ आर्थिक समानता और सत्ता में बराबर भागीदारी के लिये भी प्रेरित करता है। हाशिए के समाज में अब किसान–मजदूर, अल्पसंख्यक, वृद्ध, निःशक्तजन एवं किन्नर आदि भी सम्मिलित हैं। उल्लेखनीय है कि इनसे सम्बन्धित विमर्श न केवल साहित्य की प्रायः सभी विधाओं को समृद्ध करते हैं, बल्कि रचना, आलोचना, समीक्षा के परम्परागत प्रतिमानों से अलग साहित्य के नये सौन्दर्यशास्त्र की वकालत भी करते हैं।

दलित साहित्य की जब भी चर्चा होती है, उसे हिन्दी साहित्य से काटकर देखने की माँग होती है। खासकर, अनेक दलित साहित्यकार मानते हैं कि हिन्दी में लिखित दलित साहित्य एक स्वतन्त्र साहित्य है। यह हिन्दी साहित्य से अलग किया जाना चाहिए। परन्तु प्रत्येक भाषा की एक सामाजिक अस्मिता होती है और उस सामाजिक अस्मिता से ही भाषा की अस्मिता भी तय होती है। जैसा कि यूरोप के समाजों की पहचान उनकी अलग–अलग भाषाओं से होती है। चाहे वह रूसी जाति हो, या फ्राँसीसी या अंग्रेज जाति हो। इन समाजों की अस्मिता की निर्मिति उनकी भाषाओं से अलग करके नहीं देखी जा सकती है। हिन्दी में डॉ. रामविलास शर्मा जिस ''हिन्दी जाति'' की बात करते हैं, उसकी सामाजिक अस्मिता इसी ''जातीय भाषा'' से निर्मित होती है। उनकी दृष्टि में भाषा का यह जातीय स्वरूप ही ''हिन्दी समाज'' को निर्मित करता है। दलित समाज इसी भारतीय (हिन्दू) समाज का एक हिस्सा है। अथवा यों कहें कि भारतीय वर्ण–व्यवस्था या जाति–व्यवस्था में इस समाज का अस्तित्व हिन्दु धर्म की धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से निर्धारित होता रहा है और इसी समाज में सवर्ण हिन्दुओं द्वारा ''अस्पृश्य'' समझा जाने के कारण दलित समाज उनका विरोध करता रहा है। इसीलिये सवर्ण समाज से तमाम भिन्नताओं के बावजूद यदि दलित समाज का रचनात्मक लेखन हिन्दी भाषा में आता है। तो जाहिर है, कि उसे हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा के समानांतर हिन्दी में लिखित हिन्दी का एक नया साहित्य माना जाना चाहिये।

यदि हम हिन्दी में लिखित दलित उपन्यासों को देखें तो ये बातें अपने आप स्पष्ट हो जायेंगी। यद्यपि हिन्दी में दलित उपन्यास कम ही है और आज जिसे दलित साहित्य कहा जाता है उसमें गिनकर तीन–चार उपन्यास ही ऐसे हैं, जो दलित लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। ये उपन्यास हैं– रामजीलाल सहायक का बंधन मुक्त' (1954), जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर' (1994), डी.पी. वरूण का 'अमर ज्योति' (1980), प्रेम कपाड़िया का 'मिट्टी की सौगन्ध' (1995), सत्य प्रकाश का 'जस तस भई सबेर' (1998), लोकप्रिय दलित लेखकों में के. नाथ का 'पलायन' (2006) और अजय नावरिया का 'उधर के लोग' (2008), परदेशी राम वर्मा का 'प्रस्थान', गुरूचरण सिंह का 'डूब जाती है नदी', शरण कुमार लिम्बाले का 'नरवानर' और मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व'आदि। इन उपन्यासों में रामजीलाल सहायक का उपन्यास 'बन्धन मुक्कत' उपलब्ध नहीं है। इस उपन्यास में लेखक ने बाबा अम्बेडकर से प्रभावित होकर भारतीय समाज की जाति व्यवस्था में दलितों की मुक्ति के सवाल को गम्भीरता के साथ उठाया गया है। और औपन्यासिक संरचना की दृष्टि से डी.पी. वरूण का उपन्यास 'अमर ज्योति' एक सामान्य कृति है। अन्य उपन्यास भी कुछ इसी प्रकार के हैं।

दरअसल हिन्दी में लिखित दलित उपन्यासों के साथ सबसे बडी दिक्कत उनकी औपन्यासिक संरचना और कथा के सांयोजन तथा विराम को लेकर है। यह दिक्कत अन्य विधाओं में लिखित दलित साहित्य के साथ भी है। जैसे की कौशल्या बैसंत्री की कृति 'दोहरा अभिशाप' का ढाँचा तो औपन्यासिक है, परन्तु वे छपी है आत्मकथा अथवा आत्मकथात्मक उपन्यास के रूप में हिन्दी में जो दलित उपन्यास उपलब्ध है, उनमें जयप्रकाश कर्दम कृत–उपन्यास 'छप्पर' की चर्चा एक अच्छे 'दलित उपन्यास' के रूप में की जा सकती है।[1] इसकी औपन्यासिक संरचना भी लगभग आत्मकथात्मक ही है। 'छप्पर' उपन्यास की निम्नलिखित पंक्तियों में दलित समाज की पारम्परिक अस्मिता खोने की पीड़ा को देखा जा सकता है :

'यहाँ आकर कितने अलग–अलग से पड गए हैं। हमें न किसी से खास मेल–जोल है न बात–चीत। मदद माँगे भी तो किससे माँगें?..... गाँव में होते तो दो चार टैम का पास–पडौस से माँग लेते, लेकिन यहाँ कौन देगा?

तू ठीक कहता है रमिया। हम बिल्कुल अकेले हैं यहाँ और यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। गाँव में पूरी बिरादरी में चाहे कोई कितना भी मजबूर और परेशान रहा हो, लेकिन भूख से मरते नहीं देखा कभी किसी को। गाँव में तो बिना माँगे ही मदद करते हैं लोग एक–दूसरे की। हम भी गाँव में होते यदि तो और चाहे जो होता हमारा, लेकिन कम से कम भूखे तो नहीं मरते हम।[2] स्पष्टतः रमिया और सुक्खा यहाँ जिस ग्रामीण संस्कृति की बात कर रहे हैं, यह वही ''अस्मिता'' है जो दलित समाज के अन्दर भी एक खास प्रकार की ''जातीय अस्मिता'' का बोध कराती है। कहना न होगा कि उनकी यह जातीय अस्मिता पारम्परिक ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया के तहत ''सामाजिक अस्मिता'' का रूप अख्तियार कर लेती है।

'जस तस भई सवेर' उपन्यास की भूमिका लिखते हुये डॉ. कुसुम वियोगी ने लिखा है कि 'यह देश अशिक्षा के कारण मिथ्या आड़म्बरों में फँसा हुआ है, जिसके कारण आए दिन नर बलि, पशु बलि, पुजारी या तांत्रिक–ओझाओं द्वारा उत्पीड़ित नर–नारी आए दिन आत्महत्या कर लेते हैं।[3] आगे उन्होंने बंधुआ मजदूरी के उदय के कारणों में इन धार्मिक अन्धविश्वासों और अशिक्षा की चर्चा करते हुये लिखा है कि 'जिसकी परिणति बंधुआ मजदूरी से शुरू होती है और श्रमिक शोषण से गुजरती हुई उसकी त्रासदी दैनिक शोषण पर जाकर भी नहीं रूकती, बल्कि गाँव की जमीन–जायदाद तक से बेदखल हो चुके आकाश के नीचे शरण लेकर समाप्त होती है। उन्हीं बेलाग सच्चाइयों के आईने को प्रस्तुत करता यह उपन्यास दलितों के सामाजिक, आर्थिक उत्पीड़न को उजागर करता है जो अशिक्षित दलित समाज की व्यथा–कथा भी हैं।'[4] उपन्यास में आया रूपलाल जैसा पात्र भी मंगल पहलवान के साथ बात–विचार की प्रक्रिया में इस सत्य का उद्घाटन करता है कि व्यवस्था के दोष, खासकर अज्ञानता के कारण दलित श्रमिक (वर्ग) चौधरी जैसे सामन्त और भगत जेसे पुरोहित के जाल में फंसता है और जिन्दगी भर उनकी गुलामी सहने को विवश होता हैः 'भगत धार्मिक आडम्बरों के लिए प्रेरित करता है और चौधरी इसके लिए कर्ज देता है। दोनों का उद्देश्य शोषण करना है। फिर दोनों अपनी बुद्धि, बल और धन बल के बल पर भारे होने से पूर्व कमेरे (काम करने वाले) वर्ग का सवेरा छीन लेते हैं और फिर शुरू होता है उन्हें अंधकार में धकेलने का कार्य जिसमें कमेरा वर्ग भटकता ही रह जाता है, जबकि उनमे से एक (ब्राह्मण–पुरोहित) समाज पर बोझ बनकर खाली पड़े मौज मारता है, दूसरा (सामन्त–क्षत्रिय) कर्ज के बदले पीढ़ी–पीढ़ी तक बेगार करवाता है और जब मेहनतकश पूरी तरह उनके जाल में फँस जाता है तो दोनो मिलकर तुम्हारी औरत का यौन शोषण करते हैं।'[5]

वास्तव में औपनिवेशिक भारत और उससे मुक्ति–आन्दोलन के दौरान डॉ. अम्बेडकर के जीवन–दर्शन और विचारधारा ने जिस अज्ञानता, अशिक्षा को दलित समाज के शोषण, दमन और उपेक्षा का वास्तविक कारण घोषित किया था, उसे हिन्दी में प्रकाशित दलित उपन्यासों ने कथा का मुख्य आधार बनाया है। जयप्रकाश कर्दम 'छप्पर' उपन्यास में इसी अज्ञानता को दलित समाज के पिछड़ेपन का कारण मानते हैं। इसीलिये कथानायक चन्दर अपने परिवार और समाज की आकांक्षा और यथार्थ से टकराते हुये दलितों के बीच ''ज्ञान–विज्ञान'' के प्रचार–प्रसार को अपनी जिन्दगी का सबसे बड़ा और पहला लक्ष्य घोषित करता है। संघर्ष करते हुये ये पात्र महाभारत के एकलव्य की तरह अपना अंगूठा नहीं गंवाते बल्कि परम्परा और आधुनिकता से टकराते, संवाद करते तथा संघर्ष करते हुये आगे बढ़ना चाहते हैं। इतना ही नहीं, वे अपनी तथा समाज की जिन्दगी को नए सिरे से संयोजित करते हुये भारतीय समाज में एक मुकम्मल जगह चाहते हैं, जिससे कि उनकी एक सामाजिक अस्मिता बन सके। इसीलिये यहाँ आदर्शवाद नहीं, बल्कि यथार्थवाद उनके विचारों को मजबूती प्रदान करता है और इस यथार्थवाद से निकला सत्य पारम्परिक संवाद की धार्मिक और नैतिक मान्यताओं को जड़ से खत्म करना चाहता है। जाहिर है, यह ''यथार्थ'' वह प्रचलित यथार्थ नहीं है जो प्रेमचन्द के गोदान अथवा फणीश्वरनाथ रेणु के मैला आंचल में समाजवादी यथार्थ से प्रभावित दिखलाई पडता है। बल्कि अब तक के दलित उपन्यासों में वर्णित यथार्थ में उस नई परम्परा और इतिहास की सृष्टि दिखलाई पडती है। जहां जिन्दगी की वास्तविक सच्चाई का बयान ही यथार्थ है। न कम न अधिक; और यह सत्य है कि ''कोरायथार्थ'' का मूल्यांकन प्रचलित साहित्यिक मूल्यों के आधार संभव नहीं है।

व्याख्याता (हिन्दी)
एस.एस.जैन सुबोध स्नातकोत्तर, (स्वायत्तशासी)महाविद्यालय,जयपुर।

संदर्भ

1. छप्पर – जयप्रकाश कर्दम, संगीता प्रकाशन, दिल्ली।
2. छप्पर – जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ 80–90
3. डॉ. कुसुम वियोगी, 'कृति के लिए': सत्यप्रकाश, जस तस भई सवेर, कामना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, पृष्ठ 7
4. वही, पृष्ठ 8
5. जस तस भई सवेर–सत्यप्रकाश, पृष्ठ 123